बाल-साहित्य इन दिनों

पल्लव

हमारे समय में बाल-साहित्य की हालत बहुत बुरी है और देखते-देखते पराग, नंदन, बाल भारती जैसी पत्रिकाएं बंद हो गईं या अप्रासंगिक हो गईं। ऐसी बातें सामान्यतः हम सभी यहां-वहां सुनते रहते हैं और मान भी लेते हैं क्योंकि अव्वल तो अब कोई पढ़ता ही नहीं (हम ही नहीं पढ़ते, टाइम ही नहीं मिलता) और फिर बच्चे तो टीवी, कम्प्यूटर से लगे रहते हैं। लेकिन क्या यह सच है? शायद नहीं। शायद इसलिए कि हमारे पैदा होने के पहले कितने लोग पढ़ते ही रहते थे, भला हम क्या जानें? लेकिन अभी का परिदृश्य तो कुछ और ही बताता है। जरा देखिए- क्या एकलव्य जैसा कोई संस्थान था जो बच्चों के लिए किताबें छापने से लगाकर पत्रिका निकालने और वितरण जैसे काम भी करता था? रूम टू रीड जैसे संस्थान थे जो मुफ्त में किताबें बच्चों तक पहुंचाते थे? राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, जिसका नाम पहले नेशनल बुक ट्रस्ट था जैसी कोई संस्था थी जो बच्चों के लिए बहुत स्तरीय किताबें सस्ते दामों में देते थे? चकमक जैसी कोई पत्रिका थी? टीवी और इंटरनेट का दबाव नहीं है, यह मानना भी गलत होगा। सही बात है कि जब मनोरंजन के विकल्प सीमित थे तब साहित्य/किताबों के लिए अधिक अवसर थे। इधर बदलाव दिखाई दे रहे हैं, हमारे समय के लगभग सभी बड़े लेखक बच्चों के लिए लिख रहे हैं। बहुत सुरुचि के साथ बच्चों की किताबें छप रही हैं और सबसे बड़ी बात नई-नई विषयवस्तु और प्रयोग इनमें देखे जा सकते हैं। बताइए, क्या यह 'पराग' वाले स्वर्णकाल में संभव था कि कोई देहाती स्कूली बच्चा टूटी-फूटी कहानी लिखे और वह बहुत सुन्दर ढंग से किताब की शक्ल में छपे?

बाल-साहित्य की दिक्कत बड़ी है और वह यह कि इस काम को बहुत मामूली समझा जाता है या फिर ऐसे लोगों का जिनकी दाल साहित्य के दूसरे हलकों में न गली हो। फिर बच्चों का मतलब आरोपित किया जाता है- आदर्श नागरिक, सच्चे हिन्दुस्तानी (जो हम भले न हो पाए हों, बच्चों को जरूर होना चाहिए)। बाल-साहित्य का मतलब समझा जाता है शिक्षाप्रद साहित्य जो भारत माता के

लेखक परिचय

लगभग एक दशक से हिन्दी साहित्य का अध्यापन, हिन्दी की लघु पत्रिका 'बनास जन' के संपादक। संप्रति : हिन्दू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में साहित्य के प्राध्यापक हैं।

सपूत तैयार करे- अभिमन्यु, ध्रुव और भीष्म ही बनने वाले देवव्रत की पौराणिक कथाएं भले अब वे छोटा भीम की शक्ल में आएं। ऐसे में बाल-साहित्य क्या रास्ता ले? आदर्श के दबाव ने बाल-साहित्य को बहुत बोसीदा और लद्दड़ बनाया है और हमारे समय का असली बाल-साहित्य वही है जो इस आदर्श और लद्दड़पने से लड़कर आया है। हिन्दी के स्थापित बाल-साहित्यकार जिस मनोलोक में रहकर चंपक वन की कथाएं बुनते हैं असल में वे नए जमाने के बच्चों को अपने बचपने जैसा समझने की भूल करते हैं, न भूलिए कि ये वे बच्चे हैं जो तकनीक और सूचना में ही नहीं अपितु बोध के स्तर पर भी पिछली चार पीढ़ियों से कहीं ज्यादा आगे हैं, आगे बनाने में हमारे समय की सहज प्रश्नाकुलता और चाक्षुष माध्यमों की बड़ी भूमिका है। आप लिखेंगे गंदी-गंदी हरकत तो वे टालकर आगे नहीं बढ़ जाएंगे अपितु पूछेंगे कि कौनसी वाली गंदी? छिपाने को बहुत रह भी नहीं गया है जो रह गया है वह है अपना निजी कौशल, अभिव्यक्ति के मौलिक नए अंदाज और प्रस्तुतिकरण की नवीनता।

इस लिहाज से इधर आए कुछ नए प्रकाशनों को देखना चाहिए। सबसे पहले 'साम्य' नाम की एक लघु पत्रिका द्वारा निकाला गया एक विशेष अंक। इस अंक का शीर्षक है- 'अगड़म बगड़म'। सुधि पाठक जानते होंगे कि महान फिल्मकार सत्यजीत राय के पिता सुकुमार राय ने बच्चों के लिए बहुत लिखा, बंगाली ही नहीं हिन्दी समाज में भी यह रिवाज रहा है और प्रेमचन्द से निराला तक अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं, उनकी एक किताब 'आबोल तावोल' को हिन्दी के प्रसिद्ध कवि लाल्टू और वरिष्ठ आलोचक सुवास कुमार ने मिलकर हिन्दी में प्रस्तुत किया है। इसकी भूमिका में सुकुमार राय ने लिखा था- 'जो अजीब है, जो बेढ़ंगा है, जो असंभव है, इस पुस्तक का ऐसी बातों से ही कारोबार है। यह दिमागी रस की पुस्तक है। इसलिए इस रस का आनन्द जो ले नहीं सकते, यह पुस्तक उनके लिए नहीं है। 'सवाल है बेढ़ंगा क्यों? जवाब है जो सीधा-सीधा ही सोच विचार सकता है वह नया क्या करेगा? कायदे की बात है कि जोड़ी तोते और तोती की ही हो सकती है, विज्ञान भी यही कहता है, बेढ़ंगी बात न होती तो 'किस्सा तोता मैना' कभी न बनता, न्यूटन क्यों अणूती बातें सोचता? धोनी की बैटिंग में दिलचस्प शॉट कैसे आते? रेल का इंजन कैसे बनता? इसलिए सच्चे हिन्दुस्तानियों को भी बेढ़ंगी बातें करनी-समझनी चाहिएं। व्यवहारिक समझ से ऊपर उठकर ही कोई असाधारणता को प्राप्त कर सकता है। सुकुमार राय के इन 'नॉनसेंस' को बंगाल में लाखों पाठकों ने अपनाया था और यह वह समय था जब बंगाल भारत को बौद्धिक नेतृत्व दे रहा था। दूसरी बात है इस अबूझ-अजीब के मार्फत शब्द ज्ञान की बढ़ोतरी करना। यहां अनेक मुहावरे और विभिन्न भाषाओं के शब्द इस धड़ल्ले से आते हैं कि पाठक देखता रह जाता है। देखिए-

बतख था, साही भी, व्याकरण को गोली मार
बन गए 'बताही' जी, कौन जाने कैसे यार

यह है असंभबेर छंदे (असंभव का छंद) जिससे एक नया अद्‌भुत लोक संभव हो सकता है। इस कविता में साही और बतख को मिलाकर बताही जानवर की कल्पना की गई है और देखिए अब विज्ञान शेर और चीते का संकर बना रहा है। ऐसा होता है और कविता ऐसा करती आई है। कबीर को याद कीजिए और उनकी उलटबांसियों को ध्यान में लाइए। अमीर खुसरो की मुकरियों को याद कीजिए- भैंस चढ़ी गूलर पर लप-लप गूलर खाए। एक और कविता देखिए-

दादा! दूर तक सोच-सोच देखा -
इस दुनिया का सकल बढ़िया,
असल बढ़िया नकल बढ़िया,
सस्ता बढ़िया दामी बढ़िया,
तुम भी बढ़िया, हम भी बढ़िया,
यहां गीत का छंद है बढ़िया
यहां फूल की गंध है बढ़िया,

मेघ भरा आकाश है बढ़िया,
लहराती बतास है बढ़िया,
गर्मी बढ़िया बरखा बढ़िया,
काला बढ़िया उजला बढ़िया,
पुलाव बढ़िया कोरमा बढ़िया,
परवल माछ का दोलमा बढ़िया,
कच्चा बढ़िया पक्का बढ़िया,
सीधा बढ़िया बांका बढ़िया,
ढोल बढ़िया घंटा बढ़िया,
चोटी बढ़िया गंजा बढ़िया,
ठेला गाड़ी ठेलते बढ़िया,
ताजी पूड़ी बेलना बढ़िया,
ताईं ताईं तुक सुनना बढ़िया,
सेमल रुई धुनना बढ़िया,
ठंडे जल में नहाना बढ़िया,
पर सबसे यह खाना बढ़िया -
पावरोटी और गुड़ शक्कर।

साम्य विशेषांक
संपादक : विजय गुप्त
साम्य, ब्रह्म रोड, अम्बिकापुर-497001
जिला-सरगुजा, छत्तीसगढ
मूल्य : 30 रुपये

लगभग पचास अद्‌भुत गीतों से भरी इस पुस्तिका के लिए अनुवादकों और साम्य के संपादक विजय गुप्त को जितना साधुवाद दिया जाए कम है। हिन्दी के पाठकों को यह महान कृति पढ़ने को मिली तो।

बाल-साहित्य के लिए एकलव्य की प्रतिष्ठा जमाने भर में है। इधर उनके द्वारा नई प्रकाशित किताबों में तीन ऐसी हैं जो बच्चों के द्वारा ही लिखी गई हैं। असल में एकलव्य द्वारा प्रकाशित मासिक बाल पत्रिका 'चकमक' में कभी ये कहानियां छपी थीं। अब प्रतिष्ठित चित्रकारों और डिजाइनरों ने इनको किताब की शक्ल में पिरोया है। पहली किताब है- 'मुझे कोई नहीं खिलाता...' देवास के एक गांव के बच्चे देवकरण पाटीदार द्वारा 1991 में लिखी गई कहानी पर शिल्पा रानडे और सौमित्र रानडे ने बहुत सुन्दर चित्र और डिजाइन से किताब तैयार की है। कहानी एक साधारण बच्चे की है जिसकी शिकायत है कि उसे कोई नहीं खिलाता। वह निराश होता है और अपना हक मांगता है, अन्ततः वह भी खेल में शामिल है। बात सचमुच छोटी-सी है किन्तु जरा ध्यान में उन मां-बाप को लाइए जिनके बच्चे ऐसी शिकायत आए दिन करते हैं। उन बच्चों को भी याद कीजिए जिनको ऐसी तकलीफ है। बात समझ में आ जाएगी।

वस्तुतः खेल में हिस्सा नहीं अपितु वह बच्चा संसार में अपना हिस्सा मांग रहा है, जाहिर है किताब को पढ़कर हिस्सेदारी के सवाल जेहन में आएंगे, जो आने ही चाहिएं। अगली किताब है- 'हमारी गाय जनी', इस कहानी को पिपरिया की अभिलाषा राजौरिया ने चकमक में 1985 में लिखा था। यहां रमेश हेंगाडी और संकेत पेठकर के चित्र हैं तो डिजाइन सौमित्र रानडे ने तैयार किया है। यह किताब एक घर में गाय के बछड़ा होने और उसके कारण आए उल्लास की कहानी कहती है। देखने की बात यह है कि ग्रामीण भारत में भी धीरे-धीरे पशु गायब होने लगे हैं और महानगरों के बच्चे तो भैंस और काली गाय का अन्तर भी नहीं जानते। पशुओं और मनुष्यों के संबंध आदिम और गहरे हैं। यह किताब एक तरह से इन संबंधों की मधुर कविता है, एक बच्ची द्वारा गायी गई कविता। मधुर और आत्मीय। देवास के ही एक और बच्चे दीपक मेहता ने चकमक के दिसम्बर, 1991 में एक कहानी लिखी थी, जिसे हम 'बैठा आस लगाए जल्दी साल पूरा हो जाए' किताब के रूप में देख-पढ़ रहे हैं। यहां रानी अहीरे के चित्र हैं और शिल्पा रानडे व सौमित्र रानडे ने बहुत सुन्दर डिजाइन से किताब तैयार की है। कहानी एक ऐसे बच्चे की है जो अपने लिए साइकिल चाहता है। पिताजी कहते हैं चौथी पास कर लो तब दिला देंगे। बड़े इन्तजार के बाद साल खत्म होता है और तब फिर कहा जाता है- पांचवीं पास कर लो तब। आखिर मुश्किल से ही सही आ जाती है तब नई समस्या पैदा होती है कि चलाना कौन सिखाए? आखिर धीरे-धीरे वह भी हुआ। किताब जो बात कहती है वह है धैर्य और प्रतीक्षा का हमारे जीवन में क्या स्थान है।

बच्चों द्वारा लिखी गई कहानियों की इन किताबों के बाद एक और किताब है- 'बालटी के अन्दर समन्दर', जिसे एक परियोजना 'अवेहि-अबकस' की किसी कार्यशाला में तैयार किया गया है। यह भी एक बहुत रोचक किताब है जो पानी के महत्त्व और पानी के सफर के बारे में हमें बताती है। सोनू की बालटी में कैसे और कहां-कहां से पानी आ रहा है तथा फिर कैसे और कहां-कहां जा सकता है। यह किताब बहुत सुन्दर ढंग से सारी बात कहती है। इन सभी किताबों में कथ्य के साथ-साथ चित्रों और डिजाइन पर भी बात होनी चाहिए क्योंकि जिन भयानक चाक्षुष माध्यमों के बीच हम रह रहे हैं वहां प्रस्तुतिकरण स्वयं में एक मूल्य बन गया है। इन किताबों को जिस शानदार तरीके से बनाया गया है, कोई भी देखते ही खरीदना चाहेगा, यह किताब का आवश्यक गुण क्यों न माना जाए?

शिकायत की जा सकती है कि 'शिक्षाप्रद' तो ये किताबें भी हैं और क्या ये आदर्श नागरिक नहीं बना रहीं? जी बिल्कुल, सही पहचाना लेकिन यहां फर्क इस बात का है कि इनमें कोई 'सीख' नहीं दे रहा है, एक सुचिन्तित प्रक्रिया और कार्यवाई के बाद रचना पूरी होती है, बगैर उपदेश दिए। उपदेशों से देश नहीं बनते, देश सपनों से बनते हैं या आन्दोलनों से। भारत इसका उदाहरण है, भले कुछ मित्र इससे इंकार करते रहें और कुछ अतिवादी विचार सरणियां अतीत की गुफाओं में शरण लेती रहें। ◆

1. 'मुझे कोई नहीं खिलाता...', मूल्य 65/-
2. 'हमारी गाय जनी', मूल्य 60/-
3. 'बैठा आस लगाए जल्दी साल पूरा हो जाए', मूल्य 60/-
4. 'बालटी के अन्दर समन्दर', मूल्य 45/-

ये पुस्तकें एकलव्य, ई-10, शंकर नगर, बीडीए कॉलोनी, शिवाजी नागर, भोपाल-462016 द्वारा प्रकाशित हैं।